६ कर्म-विमर्श

☐ श्री भगवती मुनि 'निर्मल'

कर्म सिद्धान्त भारत के आस्तिक दर्शनों का नवनीत है। उसकी आधार-शिला है। कर्म की नींव पर ही उसका भव्य महल खड़ा हुआ है। कर्म के स्वरूप निर्णय में विचारों की, मतों की विभिन्नता होगी पर अध्यात्म सिद्धि कर्म मुक्ति के केन्द्र स्थान पर फलित होती है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में कर्म की मीमांसा की है। चूँकि जगत् की विभक्ति, विचित्रता व साधनों की समानता होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है।

लौकिक भाषा में कर्म कर्त्तव्य है। कारक की परिभाषा से कर्त्ता का व्याप्य कर्म है। वेदान्ती अविद्या, बौद्ध वासना, सांख्य क्लेश और न्याय वैशेषिक अदृष्ट तथा ईसा, मोहम्मद, और मूसा शैतान एवं जैन कर्म कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशन करते हैं तो कई उसके विभिन्न पहलुओं पर सामान्य दृष्टिक्षेप कर आगे बढ़ जाते हैं। न्याय दर्शनानुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे और बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार जिसके द्वारा पड़ता है वह अदृष्ट कहलाता है। सद्-असद् प्रवृत्ति से प्रकम्पित आत्म प्रदेश द्वारा पुद्गल स्कन्ध को अपनी ओर आकर्षित करने में कुछ पुद्गल स्कन्ध तो विसर्जित हो जाते हैं तो शेष चिपक जाते हैं। चिपकने वाले पुद्गल स्कन्धों का नाम ही कर्म है। जब तक कर्म का फल नहीं मिलेगा, तब तक कर्म आत्मा के साथ ही रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। यथा—

ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफलस्य दर्शनात्
—न्यायसूत्र ४/१/

चूँकि यदि ईश्वर कर्म फल की व्यवस्था न करे तो कर्म फल निष्फल हो जायेंगे। सांख्य सूत्र के मतानुसार कर्म तो प्रकृति का विकार है। यथा—

अन्तःकरण धर्मत्वं धर्मादीनाम्
—सांख्य सूत्र ५/२५

सुन्दर व असुन्दर प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत संस्कारों से ही कर्मों के फल मिलते हैं। जैन दर्शन ने कर्म को स्वतन्त्र

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व माना है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं जो समग्र लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ आबद्ध हो जाते हैं। यह उनकी बध्यमान अवस्था है। बन्ध के बाद उसका परिपाक होता है। वह सत् अवस्था है। परिपाक के पश्चात् उनसे सुख-दुःख रूप तथा आवरण रूप फल प्राप्त होता है। यह उदयमान अवस्था है। अन्य दर्शनों में भी कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध ये तीन अवस्थाएं निर्देशित हैं। वे क्रमशः बन्ध, सत्त् और उदय की समानार्थक परिभाषाएँ हैं। कर्म की प्रथम अवस्था बन्ध है। अन्तिम अवस्था वेदना है। इसके मध्य में कर्म की विभिन्न अवस्थाएं बनती हैं। उनमें प्रमुख अवस्थाएँ, बंध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्त और निकाचन है। कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से एक नवीन अवस्था उत्पन्न होती है। यह बंध है। आत्मा की बध्यमान स्थिति है। बंधकालीन अवस्था के पन्नवणा सूत्रानुसार तीन भेद हैं। अन्य स्थानों पर चार भेद भी निर्देशित हैं। बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध स्पर्श स्पृष्ट और चौथा निधत्त।

कर्म प्रायोग्य पुद्गलों की कर्म रूप में परिणति बद्ध अवस्था है। आत्म प्रदेशों से कर्म पुद्गलों का मिलन स्पृष्ट अवस्था है। आत्मा और कर्म पुद्गल का दूध व पानी को भाँति सम्बन्ध होता है। दोनों में गहरा सम्बन्ध स्थापित होना निधत्त है। सुइयों को एकत्रित करना, धागे से बांधना, लोहे के तार से बाँधना और कूट पीट कर एक कर देना अनुक्रमेण बद्ध आदि अवस्थाओं के प्रतीक हैं।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण ही कर्म है। कर्मों की स्थिति और अनुभाग बन्ध में वृद्धि उद्वर्तन अवस्था है। स्थिति और अनुभाग बंध में ह्रास होना अपवर्तन अवस्था है। पुद्गल स्कन्ध कर्म रूप में परिणत होने के बाद जब तक आत्मा से दूर होकर कर्म अकर्म नहीं बन जाते, तब तक की अवस्था सत्ता के नाम से पुकारी जाती है। कर्मों का संवेदनाकाल उदयावस्था है। अनागत कर्म दलिकों का स्थिति घात कर उदय प्राप्त कर्म-दलिकों के साथ उन्हें भोग लेना उदीरणा है।

किसी के द्वारा उभरते हुए क्रोध को अभिव्यक्त करने के लिये भी आगमों में उदीरणा शब्द का प्रयोग परिलक्षित है। पर दोनों उदीरणा शब्द समानार्थक नहीं, अलग-अलग अर्थ वाले हैं। उक्त उदीरणा में निश्चित अपवर्तन होता है। अपवर्तन में स्थितिघात और रसघात होता है। स्थिति और रसघात कदापि शुभ योग के बिना नहीं होता। कषाय की उदीरणा में क्रोध स्वयं अशुभ है। अशुभ योगों में कर्मों की स्थिति अधिक वृद्धि को प्राप्त करती है, कम नहीं होती। यदि अशुभ योगों से स्थिति ह्रास होती तो अधर्म से निर्जरा धर्म भी होता, पर ऐसा होना असम्भव है। अतः कषाय की उदीरणा का अर्थ हुआ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेशों में जो उदीयमान कषाय थी, उसका बाह्य निमित्त मिलने पर विपाकीकरण होता है। उस विपाकीकरण को ही कषाय में उदीरणा कहा जाता है।

आयुष्य कर्म की उदीरणा शुभ-अशुभ दोनों योगों से होती है। अनशन, संलेखना आदि शुभ योग से आत्मघात, अपमृत्यु आदि के अवसरों पर अशुभ योग की उदीरणा है पर इससे उक्त कथन पर किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होती। क्योंकि आयुष्य कर्म की प्रक्रिया में सात कर्मों की काफी भिन्नता है। प्रयत्न विशेष से सजातीय प्रकृतियों में परस्पर परिवर्तित होना संक्रमण है। कर्मों का अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त तक सर्वथा अनुदय अवस्था का नाम उपशम है। निधत्त अवस्था कर्मों की सघन अवस्था है। इस अवस्था में कर्म और आत्मा का ऐसा सम्बन्ध जुड़ता है जिसमें उदवर्त्तन, अपवर्तन के अलावा और कोई प्रयत्न नहीं होता। निकाचित कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ बहुत ही गाढ़ है। इसमें भी किसी भी प्रकार का परिवर्तन कदापि नहीं होता। सर्व करण अयोग्य हो जाते हैं। निकाचित के सम्बन्ध में एक मान्यता है कि इसको विपाकोदय में भोगना अनिवार्य है। एक धारणा यह है कि निकाचित भी बहुधा प्रदेशोदय से क्षीण करते हैं। चूंकि सैद्धान्तिक मान्यता है कि नरक गति की स्थिति कम से कम १००० सागर के सातिय दो भाग २०५ सागर के करीब है। नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम है। यदि नरक का निकाचित बन्धन है तो २०५ सागर की स्थिति को विपाकोदय में कहाँ कैसे भोगेंगे? जबकि नरकायु अधिकतम ३३ सागर का ही है। जहां विपाकोदय भोगा जा सकता है। इससे सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि निकाचित से भी हम बिना विपाकोदय में मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। प्रदेशोदय के भोग से निर्भरण हो सकता है।

निकाचित और दलिक कर्मों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि दलिक में उदवर्तन, अपवर्तन आदि अवस्थाएं बन सकती हैं पर निकाचित में ऐसा परिवर्तन नहीं होता।

शुभ परिणामों की तीव्रता से दलिक कर्म प्रकृतियों का ह्रास होता है और तपोबल से निकाचित का भी।

—सव्व पगई मेवं परिणाम वासाद वक्कमो होज्जापापम निकाईयाणं निकाइमाणापि।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण :

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म ही है। कर्म संयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत्त होती है या विकृत होती है। कर्म नष्ट होने पर ही उसका शुभ स्वरूप प्रकट होता है। कर्ममुक्त आत्मा पर बाहरी वस्तु का प्रभाव कदापि नहीं पड़ता। कर्मबद्ध आत्मा पर ही बाहरी परिस्थिति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का असर पड़ता है और वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। ज्यों-ज्यों शुद्धता की मात्रा वृद्धिगत होती है त्यों-त्यों ही बाहरी वातावरण का प्रभाव समाप्त सा होता जाता है। यदि शुद्धि की मात्रा कम होती है तो बाहरी प्रभाव उस पर छा जाता है। विजातोय सम्बन्ध—विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म पुद्‌गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुँच कर्म संघठना पर्यन्त ही है। उससे कर्म संघठना प्रभावित होती है। फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म संस्थान को प्रभावित न कर सके उसका आत्मा पर प्रभाव किंचित भी नहीं पड़ता। बाहरी परिस्थितियाँ सामूहिक होती हैं। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है।

परिस्थिति :

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सहस्थिति का नाम ही परिस्थिति है। एकान्त, काल, क्षेत्र, स्वभाव पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है। यह एकान्त असत्य मिथ्या है। काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ बनता है यह सापेक्ष दृष्टि सत्य है। वर्तमान की जैन विचार धारा में काल मर्यादा, क्षेत्र मर्यादा, स्वभाव मर्यादा, पुरुषार्थ मर्यादा और नियति मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त दृष्टि है, वैसा कर्म मर्यादा का नहीं रहा। जो कुछ होता है वह कर्म से ही होता है ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद है जो सत्य से दूर है। आत्म गुण का विकास कर्म से नहीं कर्म विलय से होता है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन दृष्टिकोण यह है कि रोग देशकाल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता किन्तु देश काल की स्थिति से कर्म की उदीरणा होती है। उत्तेजित कर्म पुद्‌गल रोग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार की जितनी भी बाहरी परिस्थितियाँ हैं वे सर्व कर्म पुद्‌गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म पुद्‌गल आत्मा में भिन्न-भिन्न परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव सिद्ध धर्म है। जब वह संयोग-कृत होता है तब विभाव रूप होता है। दूसरों के संयोग से नहीं होता। उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की भौतिकता :

अन्य दर्शन जहाँ कर्म को संस्कार या वासना रूप मानते हैं वहाँ जैन दर्शन उसे पौद्‌गलिक भी मानता है। जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नहीं होता। आत्मा का गुण उसके लिये आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु कैसे बन सकता है? कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु है। गुणों का विघातक है। अतः वह आत्मा का गुण नहीं हो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सकता। अतः कर्म पुद्गल है। कर्म भौतिक है; जड़ है। चूंकि वह एक प्रकार का बन्धन है। जो बन्धन होता है वह भौतिक होता है। बेड़ी मानव को आबद्ध करती है। कूल (किनारा) नदी को घेरते हैं। बड़े-बड़े बाँध पानी को बाँध देते हैं। महाद्वीप समुद्र से आबद्ध हैं। ये सर्व भौतिक हैं अतः बन्धन हैं।

आत्मा की वैकारिक अवस्थाएँ अभौतिक होती हुई भी बन्धन की भाँति प्रतीत होती हैं। पर वास्तविकता यह है कि बंधन नहीं, बंध जनित अवस्थाएं हैं। पुष्टकारक भोजन से शक्ति संचित होती है। पर दोनों में समानता नहीं है। शक्ति भोजन जनित अवस्था है। एक भौतिक है, अन्य अभौतिक है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव ये पाँच द्रव्य अभौतिक हैं। अतः किसी के बन्धन नहीं है। भारतीयेतर दर्शनों में कर्म को अभौतिक माना है।

कर्म सिद्धान्त यदि तात्विक है तो पाप करने वाले सुखी और पुण्य करने वाले दुःखी क्यों देखे जाते हैं? यह प्रश्न भी समस्या मूलक नहीं है। क्योंकि बन्धन और फल की प्रक्रिया भी कई प्रकार से होती है। जैन दर्शनानुसार चार भंग हैं। यथा—

पुण्यानुबंधी पाप, पापानुबंधी पुण्य, पुण्यानुबंधी पुण्य व पापानुबंधी पाप। भोगी मनुष्य पूर्वकृत पुण्य का उपभोग करते हुए पाप का सर्जन करते हैं। वेदनीय कर्म को समभाव से सहनकर्त्ता पाप का भोग करते हुए पुण्यार्जन करते हैं। सर्व सामग्री से सम्पन्न होते हुये भी धर्मरत प्राणी पुण्य का भोग करते हुए पुण्य-संचयन करते हैं। हिंसक प्राणी पाप भोगते हुए पाप को जन्म देते हैं।

उपर्युक्त भंगों से यह स्पष्ट है कि जो कर्म मनुष्य आज करता है उसका प्रतिफल तत्काल नहीं मिलता। बीज वपन करने वाले को कहीं शीघ्रता से फल प्राप्त नहीं होता। लम्बे समय के बाद ही फल मिलता है। इस प्रकार कृत कर्मों का कितने समय पर्यंत परिपाक होता है, फिर फल की प्रक्रिया बनती है। पाप करने वाले दुःखी और पुण्य करने वाले सुखी इसीलिए हैं कि वे पूर्व कृत पाप-पुण्य का फल भोग रहे हैं।

अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव :

कर्म मूर्त है जबकि आत्मा अमूर्त है। अमूर्त आत्मा पर मूर्त का उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है जबकि अमूर्त आकाश पर चन्दन का लेप नहीं हो सकता। न मुष्टि का प्रहार भी। यह तर्क समीचीन है पर एकांत नहीं है। चूंकि ब्राह्मी आदि पौष्टिक तत्त्वों के आसेवन से अमूर्त ज्ञान शक्ति में स्फुरणा देखते हैं। मदिरा आदि के सेवन से संमूर्छना भी। यह मूर्त का अमूर्त पर स्पष्ट प्रभाव है। यथार्थ में संसारी आत्मा कथंचित मूर्त भी है। मल्लिषेण सूरि के शब्दों में—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संसारी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु चिपके हुये हैं। अग्नि के तपने और घन से पीटने पर सुइयों का समूह एकीभूत हो जाता है। इसी भाँति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध संश्लिष्ट है। यह सम्बन्ध जड़ चेतन को एक करने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं किन्तु क्षीर-नीर का सम्बन्ध है। अतः आत्मा अमूर्त है यह एकान्त नहीं है। कर्म बंध की अपेक्षा से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है।

कर्म बंध के कारण :

कर्म संबंध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बंध का कारण है। भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! क्या जीव कांक्षा मोहनीय कर्म का बन्धन करता है ?

भगवान्—गौतम ! हाँ, बन्धन करता है।

गौतम —वह किन कारणों से बंधन करता है ?

भगवान्—गौतम ! उसके दो कारण हैं। प्रमाद व योग।

गौतम —भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—योग से।

गौतम —योग किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—वीर्य से।

गौतम —वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

गौतम —शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान्—जीव से।

अर्थात् जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा मोह) का बंधन करता है। 'स्थानांग' सूत्र और 'पन्नवणा' सूत्र में कर्म बंध के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कारण बताये हैं।

गौतम—भगवन् ! जीव कर्म बंध कैसे करता है ?

भगवान् ने प्रत्युत्तर में कहा कि गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शन मोह का उदय होता है। दर्शन मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों का बंधन करता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

'स्थानांग सूत्र' ४१८, समवायांग ५ एवं उमा स्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कर्म बंध के पाँच कारण निर्देशित किये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग। यथा—

मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बंध हेतवः।

—तत्त्वार्थ ८/१

कषाय और योग के समवाय संबंध से कर्मों का बंध होता है—

"जोग बन्धे कषाय बन्धे"।

—समवायांग

कर्म बन्ध के चार भेद हैं। कर्म की चार प्रक्रियाएं हैं—१. प्रकृति बन्ध, २. स्थिति बन्ध, ३. अनुभाग बन्ध और ४. प्रदेश बन्ध। ग्रहण के समय कर्म पुद्गल एकरूप होते हैं किन्तु बंध काल में आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणों को अवरुद्ध करने का भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाना प्रकृति बंध है। उनमें काल का निर्णय स्थिति बंध है। आत्म परिणामों की तीव्रता और मंदता के अनुरूप कर्म बंध में तीव्र और मंदरस का होना अनुभाग बंध है। कर्म पुद्गलों की संख्या निर्णीति या आत्मा और कर्म का एकीभाव प्रदेशबंध है।

कर्म बंध की यह प्रक्रिया मोदक के उदाहरण से प्रदर्शित है। मोदक पित्त-नाशक है या कफ वर्धक, यह उसके स्वभाव पर निर्भर है। उसकी कालावधि कितनी है। उसकी मधुरता का तारतम्य रस पर अवलम्बित हैं। मोदक कितने दानों से बना है यह संख्या पर निर्भर करता है। मोदक की यह प्रक्रिया कर्म बंध की सुन्दर प्रक्रिया है।

जोगा पयडिपएसं ठिई अणुभागं कसाय ओ कुणइ

कषाय के अभाव में साम्परायिक कर्म का बंध नहीं होता। दसवें गुण-स्थान पर्यंत योग और कषाय का उदय रहता है अतः वहाँ तक साम्परायिक बंध होता है। कषाय और योग से होने वाला बंध साम्परायिक कहलाता है। गमनागमन आदि क्रियाओं से जो कर्म बंध होता है, वह ईर्यापथिक कर्म कहलाता है। ईर्यापथिकी कर्म की स्थिति उत्तराध्ययन सूत्रानुसार दो समय की है।

राग में माया और लोभ का तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश हो जाता है। राग और द्वेष द्वारा ही अष्ट विध कर्मों का बन्ध होता है। राग-द्वेष ही भाव कर्म है। राग व द्वेष का मूल मोह है। आचार्य हरिभद्र सूरि के शब्दों में—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्नेहासिक्त शरीरस्य रेणुनाश्लेष्यते यथा गात्रम् ।
राग द्वेषाक्लिन्नस्य कर्म बन्धो भवत्येवम् ।।

—आवश्यक टीका

जिस मानव के शरीर पर तेल का लेपन किया हुआ है, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से लिप्त हो जाता है। उसी भाँति राग-द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए मानव पर कर्म रज का बंध होता है। राग-द्वेष की तीव्रता से ही ज्ञान में विपरीतता आती है। जैन दर्शन की भाँति बौद्ध दर्शन ने भी कर्म बंध का कारण मिथ्या ज्ञान अथवा मोह को स्वीकार किया है।

सम्बन्ध का अनादित्व :

जैन दर्शन में आत्मा निर्मल तत्त्व हैं। वैदिक दर्शन में ब्रह्म तत्त्व विशुद्ध है। कर्म के साहचर्य से वह मलिन होता है। पर इन दोनों का संयोग कब हुआ? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर अनादित्व की भाषा से दिया है। चूँकि आदि मानने पर अनेक विसंगतियाँ उपस्थित हो जाती हैं जैसे कि सम्बन्ध यदि सादि है तो पहले कौन? आत्मा या कर्म या दोनों का सम्बन्ध है? प्रथम प्रकारेण पवित्र आत्मा कर्म बंध नहीं करती। द्वितीय भंग में कर्म कर्त्ता के अभाव में बनते नहीं। तृतीय भंग में युगपत् जन्म लेने वाले कोई भी पदार्थ परस्पर कर्त्ता, कर्म नहीं बन सकते। अतः कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध का सिद्धांत अकाट्य है।

इस सम्बन्ध में एक सुन्दर उदाहरण प्रसिद्ध विद्वान् हरिभद्र सूरि का है। वर्तमान समय का अनुभव होता है। फिर भी वर्तमान अनादि है क्योंकि अतीत अनन्त है। और कोई भी अतीत वर्तमान के बिना नहीं बना। फिर भी वर्तमान का प्रवाह कब से चला, इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में अनादित्व ही अभिव्यक्त होता है। इसी भाँति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध वैयक्तिक दृष्टया सादि होते हुए भी प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। आकाश और आत्मा का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। पर कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्ण मृत्तिका की भाँति अनादि सान्त है। अग्नि प्रयोग से स्वर्ण-मिट्टी को पृथक्-पृथक् किया जाता है तो शुभ अनुष्ठानों से कर्म के अनादि सम्बन्ध को खण्डित कर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिलता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ताय दुहाणय सुहाणय।'

कर्म फल का नियंता ईश्वर है। यह जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। जैन दर्शन यह स्वीकार करता है कि कर्म परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है जिससे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भवगति, स्थिति प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक प्रदर्शन में समर्थ होकर आत्मा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के संस्कार को मलीन-कलुषित करता है। उससे उनका फलायोग होता है। अमृत और विष पथ्य और अपथ्य में कुछ भी ज्ञान नहीं होता तथापि आत्मा का संयोग पाकर वे अपनी प्रकृत्यानुसार प्रभाव डालते हैं। जिस प्रकार गणित करने वाली मशीन जड़ होने पर भी अंक गणना में भूल नहीं करती वैसे ही कर्म जड़ होने पर भी फल देने में भूल नहीं करते। अतः ईश्वर को नियंता मानने की आवश्यकता नहीं। कर्म के विपरीत वह कुछ भी देने में समर्थ नहीं होगा।

एक तरफ ईश्वर को सर्व शक्तिमान मानना दूसरी तरफ अंश मात्र भी परिवर्तन का अधिकार नहीं देना ईश्वर का उपहास है। इससे तो अच्छा है कि कर्म को ही फल प्रदाता मान लिया जाये।

कर्म बन्ध और उसके भेद :

माकन्दी ने अपनी जिज्ञासा के शमनार्थ प्रश्न किया कि भगवन्! भाव-बन्ध के भेद कितने हैं?

भगवान्—माकन्दी पुत्र, भाव बन्ध दो प्रकार का है—

मूल प्रकृति बन्ध और उत्तर प्रकृति बन्ध।

बन्ध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चतुर्रूप है। यथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। बन्ध का अर्थ है आत्मा और कर्म का संयोग। और कम का निर्मापण व्यवस्थाकरण—बन्धनम निर्मापणम्। (स्था० ८/५९६) ग्रहण के समय कर्म पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्म प्रदेशों के साथ एकीभूत हो जाते हैं। इसके पश्चात् कर्म परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बंट जाते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय।

कर्म दो प्रकार के हैं घाती कर्म और अघाती कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घनघाती, आत्म शक्ति के घातक, आवरक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। इनके दूर हो जाने पर ही आत्म गुण प्रकट होकर निज स्वरूप में आत्मा आ जाती है। शेष चार अघाती कर्म हैं। ये मुख्यतः आत्म गुणों का घात नहीं करते हैं। ये शुभ-अशुभ पौद्गलिक दशा के निमित्त हैं। ये अघाती कर्म बाह्यार्थापेक्षी हैं। भौतिक तत्त्वों की इनसे प्राप्ति होती हैं। जीवन का अर्थ है—आत्मा और शरीर का सहभाव। शुभ-अशुभ शरीर निर्माणकारी कर्म वर्गणाएं नाम कर्म। शुभ-अशुभ जीवन को बनाये रखने वाली कर्म वर्गणाएं आयुष्य कर्म। व्यक्ति को सम्माननीय-असम्माननीय बनाने वाली कर्म वर्गणाएं गोत्र कर्म और सुख-दुःखानुभूतिकारक कर्म वर्गणाएं वेदनीय कर्म कहलाती हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तीसरी अवस्था काल मर्यादा की है। प्रत्येक कर्म प्रत्येक आत्मा के साथ निश्चित समय पर्यन्त रह सकता है। स्थिति परिपक्व होने पर वह आत्मा से अलग हो जाता है। चौथी अवस्था फल दान शक्ति की है। तदनुसार पुद्‌गलों में इसकी मन्दता व तीव्रता का अनुभव होता है।

आत्मा का स्वातन्त्र्य व पारतन्त्र्य :

सामान्यत: यह कहा जाता है कि आत्मा कर्तृत्वापेक्षा से स्वतन्त्र है पर भोगने के समय परतन्त्र। उदाहरणार्थ विष को खा लेना अपने हाथ की बात है पर मृत्यु से विमुख होना स्वयं के हाथ में नहीं है। चूंकि विष को भी विष से निर्विष किया जा सकता है। मृत्यु टल सकती है। आत्मा का भी कर्तेपन में व भोगतेपन में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों फलित होते हैं।

सहजतया आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इच्छानुसार कर्म कर सकती है। कर्म विजेता बन पूर्ण उज्ज्वल बन सकती है। पर कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकती। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर चलना चाहती हुई भी चल नहीं सकती। यह है आत्मा का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के पश्चात् भी आत्मा कर्माधीन हो जाती है, यह भी नहीं कहा सकता। उसमें भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित रहता है, उसमें भी अशुभ को शुभ में परिवर्तित करने की क्षमता निहित है।

कर्म का नाना रूपों में दिग्दर्शन :

कर्म बद्ध आत्मा के द्वारा आठ प्रकार की पुद्‌गल वर्गणाएँ गृहीत होती हैं। औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तेजस् वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा और मनोवर्गणा। इनमें कार्मण वर्गणा के जो पुद्‌गल होते हैं वे कर्म बनने के योग्य होते हैं। उनके तीन लक्षण हैं—

१. अनन्त प्रदेशी स्कन्धत्व।

२. चतु: स्पर्शित्व।

३. सत् असत् परिणाम ग्रहण योग्यत्व।

संख्यात्-असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात और आठ स्पर्श वाले पुद्‌गल स्कन्ध कर्मरूप में परिणत नहीं हो सकते। आत्मा की शुभ अशुभ प्रवृत्ति (आस्रव) के बिना सहज

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्ति से ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल स्कन्ध कर्म रूप में परिणित नहीं हो सकते। कर्म योग्य पुद्गल ही आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कर्म बनते हैं। कर्म की प्रथम अवस्था बन्ध है तो अन्तिम अवस्था वेदना है। कर्म की विसम्बन्धी निर्जरा है किन्तु वह कर्म की नहीं अकर्म की है। वेदना कर्म की और निर्जरा अकर्म की।

कम्म वेयणा जो कम्म निज्जरा।

—भग० ७/३

अत: व्यवहार में कर्म की अन्तिम दशा निर्जरा और निश्चय में वह वेदना मानी गई है। बन्ध और वेदना या निर्जरा के मध्य में भी अनेक अवस्थाएं हैं जो उपर्युक्त बद्धादि हैं।

कर्म-क्षय की प्रक्रिया :

कर्म क्षय की प्रक्रिया जैन दर्शन में गहराई लिये हुए है। स्थिति का परिपाक होने पर कर्म उदय में आते हैं और झड़ जाते हैं। कर्मों को विशेषरूपेण क्षय करने के लिये विशेष साधना का मार्ग अवलम्बन करना पड़ता है। वह साधना स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि मार्ग से होती है। इन मार्गों से सप्तम गुण-स्थान पर्यन्त कर्म क्षय विशेष रूप से होते हैं। अष्टम् गुणस्थान के आगे कर्म क्षय की प्रक्रिया परिवर्तित हो जाती है। १. अपूर्व स्थिति ज्ञात, २. अपूर्व रसघात, ३. गुण श्रेणी, ४. गुण संक्रमण, ५. अपूर्व स्थिति बन्ध। सर्व प्रथम आत्मा अपवर्तन करण के माध्यम से कर्मों को अन्तर्मुहूर्त्त में स्थापित कर गुण श्रेणी का निर्माण करती है। स्थापना का यह क्रम उदयकालीन समय को लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त एक उदयात्मक समय का परित्याग कर शेष जितना समय है, उनमें कर्म दलिकों को स्थापित किया जाता है। प्रथम समय में कर्म दलिक बहुत कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित कर्म दलिक उससे असंख्यात गुण अधिक होते हैं। तृतीय समय में उससे भी असंख्यात गुण अधिक होने से इसे गुण श्रेणी कहा जाता है।

गुण संक्रमण अशुभ कर्मों की शुभ में परिणति होती जाती है। स्थापना का क्रम गुण श्रेणी की भाँति ही है। अष्टम गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान पर्यन्त ज्यों-ज्यों आत्मा आगे बढ़ती जाती है त्यों-त्यों समय स्वल्प और कर्मदलिक अधिक मात्रा में क्षय हो जाते हैं। इस समय आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति कर्मों का बन्धन करती है जैसा उसने पहले कभी नहीं किया है। अत: इस अवस्था का नाम अपूर्व स्थिति बन्ध कहलाता है। स्थितिघात और रसघात भी इस समय में अपूर्व ही होता है, अत: यह अपूर्व शब्द के साथ संलग्न हो गया।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस उत्क्रान्ति के समय में बढ़ती हुई आत्मा जब परमात्म शक्ति को जागृत करने के लिए अत्यन्त उग्र हो जाती है, आयुष्य स्वल्प रहता है, कर्म अधिक रहते हैं तब आत्मा और कर्मों के मध्य भयंकर संघर्ष होता है। आत्म प्रदेश कर्मों से लोहा लेने के लिये देह की सीमा का परित्याग करके रणस्थली में उतर जाते हैं। आत्मा ताकत के साथ संघर्ष करती है। यह युद्ध कुछ मील पर्यन्त ही नहीं रहता, सम्पूर्ण लोक क्षेत्र को अपने दायरे में लाता है। इस महायुद्ध में बहुसंख्यक कर्म क्षय हो जाते हैं। अवशेष कर्म अल्प मात्रा में रहते हैं। वे भी इतने दुर्बल और शिथिल हो जाते हैं कि अधिक समय पर्यन्त ठहरने की शक्ति उनमें नहीं रहती। अतः इसको उखाड़ फेंकने के लिए छोटा सा हवा का झोंका भी काफी है।

कर्म-गीतिका

कर्म तणी गत न्यारी, प्रभुजी कर्म तणी गत न्यारी।
अलख निरंजन सिद्ध स्वरूपी, पिण होय रयो संसारी ।।१।।

कबहुक राज करे यही मण्डल, कबहुक रंक भिखारी।
कबहुक हाथी समचक डोला, कबहुक खर असवारी ।।२।।

कबहुक नरक निगोद बसावत, कबहुक सुर अवतारी।
कबहुक रूप कुरूप को दरसन, कबहुक सूरत प्यारी ।।३।।

बड़े-बड़े वृक्ष ने छोटे-छोटे पतवा, बेलड़ियांरी छवि न्यारी।
पतिव्रता तरसे सुत कारण, फुहड़ जण-जण हारी ।।४।।

मूर्ख राजा राज करत है, पंडित भए भिखारी।
कुरंग नेण सुरंग बने अति, चूँधी पदमण नारी ।।५।।

'रतनचन्द' कर्मन की गत को, लख न सके नर नारी।
आपो खोज करे आतम वश, तो शिवपुर छै त्यारी ।।६।।

—आचार्य श्री रतनचन्द्रजी म. सा.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org